इस्लाम और संन्यास

लेखक
सैयद अबुल आला मौदूदी

संकलनकर्ता एवं अनुवादक
नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
'अल्लाह-के नाम से जो बड़ा कृपाशील अत्यन्त दयावान है।'

इस्लाम और संन्यास

आख़िरत की मुक्ति और कल्याण के सम्बन्ध में धर्मों का सामान्य मत यह है कि इस संसार से विमुख होकर पुर्णतः एकांत ग्रहण कर लिया जाए और दुनिया के समस्त आस्वादनों और कामनाओं से अपने आप को मुक्त करके जंगलों, पहाड़ों और गुफाओं में जीवन व्यतीत किया जाए।

भारतीय धर्मों में जैन धर्म की मान्यता भी यही है। उसके सबसे बड़े गुरु स्वामी महावीर ने संसार-त्याग का जीवन अपनाया और इस संसार से इतना पहलू बचाकर रहे कि उन्हें सांसारिक वस्त्र का एक सूत्र भी अपने शरीर के लिए स्वीकार्य न हुआ। वे बिलकुल नग्न रहते थे, इसीलिए आज भी उनके मानने वाले वे लोग जो भक्ति और बन्दगी के सर्वोच्च स्थान को प्राप्त करना चाहते हैं, स्वामी महावीर के अनुसरण में बिलकुल नंगा रहना अपने लिए अनिवार्य जानते हैं और दुनिया की कोई विशेष सामग्री भी अपने साथ नहीं रखते।

इसी प्रकार बौद्ध धर्म की दृष्टि में भी पारलौकिक मोक्ष और सफलता के लिए आवश्यक है कि संसार और संसार की समस्त चीज़ों से मनुष्य अपने सम्बन्ध तोड़े, इसीलिए इस धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध ने अपने माता-पिता, पत्नी और सन्तान और राज-पाट को त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लिया और इसी को मुक्ति का साधन ठहराया।

स्वयं हिन्दू धर्म में जीवन–यात्रा की जिन मंज़िलों का उल्लेख मिलता है, उनमें पहली मंज़िल ज्ञान–अर्जन की है, दूसरी गृहस्थी की और उसके बाद वानप्रस्थ की मंज़िल आती है और अन्त में वह मंज़िल आती है जबकि मनुष्य पूर्ण रूप से संन्यासी हो जाता है। मनुस्मृति में है कि जब गृहस्थ के सिर के बाल सफ़ेद हो जाएँ और त्वचा में झुर्रियाँ दिखाई देने लगें और उसका बेटा पुत्रवान हो जाए, उस समय उसे चाहिए कि वह वन में निवास ग्रहण करे और हर प्रकार के नगर–आहार और वस्त्रादि और सभी उत्कृष्ट पदार्थों को छोड़ दे, और अपनी पत्नी को अपने पुत्रों के पास छोड़ दे या फिर उसकी पत्नी भी उसके साथ जंगल में त्याग का जीवन बिताए, लेकिन यह वानप्रस्थ आश्रम में है। संन्यास की ज़िन्दगी में पत्नी के साथ रहने और किसी तरह के सांसारिक सम्बन्ध रखने की गुंजाइश नहीं है।

अगर कोई धर्मपरायण और संन्यासी व्यक्ति बाल्यावस्था के पश्चात् ही संन्यास ग्रहण करे और गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न अपनाए तो इसकी भी पूरी गुंजाइश है, बल्कि कुछ परिस्थितियों में इसको उत्तम और श्रेष्ठ समझा गया है।

परन्तु इसके विपरीत इस्लाम दुनिया में रहने और उसकी नेमतों से लाभान्वित होने को पारलौकिक मोक्ष की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं समझता, बल्कि इस्लाम तो आया ही इसलिए है कि वह मानव को दुनिया में रहना सिखाए। वह तो अपने सिद्धान्तों के अन्तर्गत शासन चलाने को भी एक बड़ी नेकी और पारलौकिक मुक्ति का साधन बताता है।

हदीस की किताबों, सहीह बुख़ारी और मुस्लिम, की बहुत

मशहूर हदीस है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया—

> "सात लोग हैं जिन्हें अल्लाह (आख़िरत में) अपनी दयालुता की छाया में जगह देगा, जबकि उसकी छाया के अलावा कोई छाया न होगी। फिर आप (सल्ल०) ने उन सात व्यक्तियों को बयान करते हुए सबसे पहले फ़रमाया, 'न्यायी शासक'।"

इस्लाम एक सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था है जो ज़िन्दगी के सभी विभागों में इनसान का मार्गदर्शन करता है। इसलिए इसकी सारी शिक्षाएँ उन्हीं लोगों के लिए हैं जो इस संसार में रहते और संसार के प्रशासन को चलाते हैं, न कि उन लोगों के लिए जो दुनिया से अलग-थलग होकर जंगलों, पहाड़ों और आश्रमों की राह लेते हैं। आचरण और चरित्र की जो उच्चता और गुण, दुनिया आश्रमों और मठों में तलाश करती है, इस्लाम उनको ज़िन्दगी के प्रत्यक्ष हंगामों और व्यवसायों में पैदा करना चाहता है। वह चाहता है कि दुनिया के सारे ही लोग, चाहे वे किसी विभाग से सम्बद्ध हों, अपने अन्दर इस्लाम के अभीष्ट गुण पैदा करें। चाहे वे लोग शासक हों या शासित, जज हों या लोकसभा के सदस्य, फ़ौज और पुलिस से उनका सम्बन्ध हो या आम जनता से, शिक्षक हों या विद्यार्थी, तात्पर्य यह कि जो भी हों, वे सब अपने अन्दर ये ख़ूबियाँ पैदा करें, जिनकी शिक्षा इस्लाम देता है।

इस्लाम की दृष्टि में संसार-त्याग और संन्यास सत्य धर्म के प्रतिकूल भी है और दुनिया में बिगाड़ और फ़साद का कारण भी बनता है। इसलिए क़ुरआन मजीद में ईसाइयों के यहाँ प्रचलित संन्यास का खंडन करते हुए उसे अस्वाभाविक और अप्रशंसनीय

तरीक़ा बताया गया है। क़ुरआन में है—

"......हमने नूह और इबराहीम को रसूल बना कर भेजा और उनकी सन्तति में नुबूवत और किताब रखी तो कुछ तो उनमें से राह पर रहे और उनमें बहुत-से सीमोल्लघंन करनेवाले हैं। फिर उन (रसूलों) के पद-चिन्हों पर हम अपने और रसूल भेजते रहे, फिर मरयम के पुत्र ईसा को भेजा और हमने उसे 'इन्जील (Bible)' प्रदान की, और जो लोग उसके पीछे चले, उनके दिलों में हमने करुणा और दयालुता रख दी, और रहबानियत (संसार-त्याग) की प्रथा उन्होंने स्वयं निकाली, हमने उन्हें इसका आदेश नहीं दिया था, दिया था तो बस अल्लाह की प्रसन्नता चाहने का। तो इन्होंने उसका जैसा पालन करना चाहिए था, नहीं किया। तो उनमें से जो ईमान लाए थे, उन्हें हमने उसका बदला दिया। और उनमें अधिकतर अवज्ञाकारी हैं।" (सूरा-57 हदीद- 26 : 27)

इस आयत में 'रहबानियत' शब्द आया है। इस शब्द की व्याख्या और पूरी आयत की टीका वर्तमान काल के महान इस्लामी विद्वान और क़ुरआन मजीद के प्रसिद्ध टीकाकार मौलाना सैयद अबुल आला मौदूदी (रह०) ने अपनी प्रसिद्ध क़ुरआन भाष्य 'तफ़हीमुल क़ुरआन', भाग पाँच में की है।

मौलाना ने लिखा है कि इसकी धातु र-ह-ब है, जिसका अर्थ 'भय' है। रहबानियत का अर्थ है डरे रहने का रास्ता और रोहबानियत का अर्थ है डरे हुए लोगों का पंथ। परिभाषा में इससे मुराद है किसी व्यक्ति का डर के कारण (चाहे वह किसी के अत्याचार का भय हो, या दुनिया के फ़ितनों का भय या अपने मन या नफ़्स की कमज़ोरियों का भय) दुनिया छोड़ देना और सांसारिक जीवन से भागकर जंगलों

और पहाड़ों में पनाह लेना या सबसे कटकर एकान्त में जा बैठना।

इस आयत की रौशनी में मौलाना ने लिखा है कि ईसाइयों पर अल्लाह ने संन्यास को फ़र्ज़ नहीं किया था। आगे लिखा है कि संन्यास एक ग़ैर-इस्लामी चीज़ है और यह कभी सत्य धर्म में शामिल नहीं रही है। यही बात है जो नबी (सल्ल०) ने फ़रमाई है, "इस्लाम में कोई संन्यास नहीं।" (मुसनद अहमद) एक और हदीस में नबी (सल्ल०) ने कहा, "इस उम्मत का संन्यास अल्लाह के रास्ते में जिहाद है।" (मुसनद अहमद, मुसनद अबी याला) अर्थात् इस उम्मत के लिए आध्यात्मिक उन्नति का रास्ता यह नहीं है कि आदमी संसार त्याग दे, बल्कि यह है कि आदमी अल्लाह के रास्ते में जिहाद करे। और यह उम्मत फ़ितनों (उपद्रवों) से डरकर जंगलों और पहाड़ों की तरफ़ नहीं भागती, बल्कि अल्लाह की राह में जिहाद करके उनका मुक़ाबला करती है। बुख़ारी और मुस्लिम दोनों ने रिवायत की है, "सहाबा में से एक साहबी ने कहा, 'मैं सदैव पूरी रात नमाज़ पढ़ा करूँगा।' दूसरे ने कहा, 'मैं हमेशा रोज़ा रखूँगा और कभी नाग़ा न करूँगा।' तीसरे ने कहा, 'मैं कभी शादी न करूंगा और औरत से कोई संबंध न रखूंगा।' अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने उनकी ये बातें सुनीं तो फ़रमाया, 'अल्लाह की क़सम! मैं तुमसे अधिक अल्लाह से डरता और उसकी अवज्ञा से बचता हूँ, परन्तु मेरा तरीक़ा यह है कि रोज़ा रखता भी हूँ और नहीं भी रखता, रातों को नमाज़ भी पढ़ता हूँ और सोता भी हूँ और औरतों से निकाह भी करता हूँ। जिसको मेरा तरीक़ा पसन्द न हो उसका मुझसे कोई संबंध नहीं'।" हज़रत अनस (रज़ि०) कहते हैं कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) फ़रमाया करते थे, "अपने ऊपर सख़्ती न करो कि

अल्लाह तुमपर सख़्ती करे। एक गिरोह ने यही कठोरता अपनाई थी तो अल्लाह ने भी फिर उसे सख़्त पकड़ा। देख लो उनके वे अवशेष संन्यास गृहों और गिरजाघरों में मौजूद हैं।" (अबू दाऊद)

संन्यास और संसार–त्याग का रास्ता अपनाकर ईसाई दोहरी ग़लती में ग्रस्त हो गए। एक ग़लती यह कि अपने ऊपर वे अंकुश लगाए, जिनका अल्लाह ने कोई आदेश नहीं किया था और दूसरी ग़लती यह कि जिन पाबन्दियों को अपनी दृष्टि में अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने का ज़रीआ समझकर ख़ुद अपने ऊपर लगा बैठे थे, उनको न निभा सके और ऐसी हरकतें कीं जिनसे अल्लाह की प्रसन्नता के बजाय उल्टा उसका प्रकोप मोल ले बैठे।

इस बात को पूरी तरह समझने के लिए एक नज़र ईसाई रहबानियत (संन्यास) के इतिहास पर डाल लेनी चाहिए।

हज़रत ईसा (अलैहि०) के पश्चात दो सो वर्ष तक ईसाई चर्च संन्यास से अपरिचित था, किन्तु आरंभ ही से ईसाइयत में इसके रोगाणु पाए जाते थे, और ऐसे विचार भी उसके अन्दर पाए जाते थे जो इस चीज़ को जन्म देते हैं। त्याग और ब्रह्मचर्य को नैतिक आदर्श (आइडियल) कहना और सन्यास्त जीवन को शादी–विवाह और सांसारिक व्यवसाय के जीवन की अपेक्षा श्रेष्ठ और उत्तम समझना ही संन्यास की बुनियाद है, और ये दोनों चीज़ें मसीहीयत में शुरू से मौजूद थीं । विशेष रूप से ब्रह्मचर्य को पवित्रता का पर्याय समझने के कारण चर्च में धार्मिक सेवा करनेवालों के लिए यह बात अप्रिय समझी जाती थी कि वे शादी करें, बाल–बच्चोंवाले हों और गृहस्थी के बखेड़ों में पड़ें। इसी चीज़ ने तीसरी शताब्दी के पहुँचने तक एक फ़ितने का रूप धारण कर लिया और संन्यास एक संक्रामक रोग की

तरह मसीहियत में फैलना शुरू हुआ। ऐतिहासिक रूप से इसके तीन बड़े कारण थे—

एक, यह कि प्राचीन अनेकेश्वरवादी समाज में कामवासना, दुश्चरित्रता और दुनियापरस्ती जिस ज़ोर के साथ फैली हुई थी, उसका तोड़ करने के लिए ईसाई विद्वानों ने सन्तुलित मार्ग अपनाने के बजाय इन्तिहापसन्दी का रास्ता अपनाया। अन्होंने पाकदामनी पर इतना बल दिया कि सिरे से स्त्री और पुरुष का संबंध ही अपवित्र समझा जाने लगा, चाहे यह संबंध निकाह (विवाह) ही के रूप में क्यों न हो। उन्होंने दुनियादारी के विरुद्ध इतनी कट्टरता दिखाई कि अन्ततः एक दीनदार आदमी के लिए सिरे से किसी प्रकार की सम्पत्ति रखना ही गुनाह बन गया और नैतिकता का मापदण्ड यह हो गया कि आदमी बिलकुल निर्धन और प्रत्येक रूप से संसार-त्यागी हो। इसी प्रकार अनेकेश्वरवादी समाज की सुख एवं वासना प्रियता के उत्तर में वे इस चरम सीमा पर जा पहुँचे कि सुख-त्याग, आत्म-दमन और इच्छाओं का उन्मूलन करना ही नैतिकता का लक्ष्य बन गया और भांति-भांति की तप-तपस्याओं से शरीर को कष्ट पहुँचाना आदमी के आध्यात्म की पूर्णता और उसका प्रमाण समझा जाने लगा।

दूसरे, यह कि ईसाइयत जब सफलता-काल में प्रवेश पाकर जनता में फैलनी शुरू हुई तो अपने धर्म के प्रचार और विस्तार के उल्लास में चर्च हर उस बुराई को अपने अधिक्षेत्र में दाख़िल करता चला गया, जो लोकप्रिय थी। प्राचीन इष्टदेवों के स्थान पर महापुरुषों की पूजा होने लगी। होरस (Horus) और आइसिस (Isis) की मूर्तियों के स्थान पर मसीह और मरियम की मूर्तियाँ पूजी जाने लगीं।

सेटरनेलिया (Saturnalia) की जगह क्रिसमस का उत्सव मनाया जाने लगा। प्राचीन काल के तावीज़-गन्डे, मन्त्र-तन्त्र, शकुन निकालना तथा भविष्यवाणी और भूत-प्रेत भगाने के काम सब ईसाई सन्तों ने शुरू कर दिए। इसी प्रकार चूँकि जन-साधारण उस व्यक्ति को ख़ुदा तक पहुँचा हुआ समझते थे जो गन्दा और नंगा हो और किसी भट या खोह में रहे, इसलिए ईसाई चर्च में भक्ति की यही धारणा लोकप्रिय हो गई। और ऐसे ही लोगों के चमत्कारों के क़िस्सों से ईसाइयों के यहाँ 'सन्त कथाएँ' जैसी किताबों की भरमार हो गई।

तीसरे, यह कि ईसाइयों के पास दीन की सीमाएँ निर्धारित करने के लिए कोई विस्तृत धर्म-विधान और कोई स्पष्ट तरीक़ा मौजूद न था। मूसवी धर्म-विधान को वे छोड़ चुके थे और अकेले इन्जील के अन्दर पूर्ण रूप से कोई आदेशावली नहीं पाई जाती थी, इसलिए मसीही विद्वान कुछ तो बाहर के दर्शनशास्त्रों और रंग-ढंग से प्रभावित होकर और कुछ स्वयं अपनी अभिरुचियों के कारण तरह-तरह की नई-नई बातों को दीन में शामिल करते चले गए। संन्यास भी इन्हीं नई बातों में से एक था। ईसाई धर्म के विद्वानों और ज्ञानियों ने उसका दर्शन-शास्त्र और उसकी कार्य-प्रणाली बुद्ध धर्म के भिक्षुओं से, हिन्दु योगियों और संन्यासियों से, प्राचीन मिस्री फ़क़ीरों (Anchorites) से, ईरान के मानी सम्प्रदाय के लोगों से और अफ़लातून तथा फ़लातीनूस के अनुयायी रहस्यवादियों से लिया और उसी को आत्मशुद्धि की विधि, आध्यात्मिक विकास और ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करने का साधन ठहरा लिया। इस ग़लती में पड़नेवाले कोई साधारण श्रेणी के लोग न थे। तीसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी (अर्थात् क़ुरआन-अवतरण के समय) तक जो लोग पूर्व और पश्चिम

में मसीहियत के बड़े-बड़े विद्वान, महागुरु और अधिनायक माने जाते हैं, जैसे सेन्ट अथानासेविस, सेन्ट बासिल, सेन्ट गिरिगोरी नाज़ियानजीन, सेन्ट कराई सूस्टम, सेन्ट ऐमब्रूज़, सेन्ट जीरूम, सेन्ट आगस्टाइन, सेन्ट बैनेडिक्ट, महान गिरीगोरी आदि, सबके सब स्वयं संन्यासी और संन्यास के बड़े ध्वजावाहक थे। इन्हीं के प्रयासों से चर्च में संन्यास का प्रचलन हुआ।

इतिहास से मालूम होता है कि ईसाइयों में संन्यास का आरम्भ मिस्र से हुआ। इसका संस्थापक सेन्ट ऐन्थोनी था जो सन् 250 ई० में पैदा हुआ और 350 ई० में संसार से चला गया। उसे पहला ईसाई संन्यासी कहा जाता है। उसने फ़य्यूम के इलाक़े में पस्पीर के स्थान पर (जो अब देरुलमैमून के नाम से प्रसिद्ध है) पहला संन्यास आश्रम स्थापित किया। उसके बाद दूसरा आश्रम उसने लाल सागर के तट पर स्थापित किया, जिसे अब देरमारु अनतुनियूस कहा जाता है। ईसाइयों में संन्यास के मूल सिद्धांत उसी के लेखों तथा आदेशों से उद्धृत हैं। इस प्रारम्भ के बाद यह सिलसिला मिस्र में सैलाब की तरह फैल गया और जगह-जगह संन्यासी पुरुषों और स्त्रियों के लिए आश्रम या मठ स्थापित हो गए जिनमें से कुछ में तीन-तीन हज़ार संन्यासी एक ही समय में रहते थे। सन् 325 ई० में मिस्र ही के अन्दर एक और ईसाई महापुरुष पाख़ूमियुस उत्पन्न हुआ, जिसने दस बड़े आश्रम संन्यासी पुरुष और स्त्रियों के लिए बनाए। इसके बाद यह सिलसिला शाम और फ़लस्तीन, अफ़्रीक़ा और यूरोप के विभिन्न देशों में फैलता चला गया। चर्च व्यवस्था को शुरू-शुरू में इस संन्यास के मामले में सख़्त उलझन का सामना करना पड़ा, क्योंकि वह संसार-त्याग और ब्रह्मचर्य तथा ग़रीबी और निर्धनता को

आध्यात्मिक जीवन का आदर्श तो समझता था, परन्तु संन्यासियों की तरह शादी-विवाह और संतान उत्पन्न करने तथा सम्पत्ति रखने को पाप भी घोषित नहीं कर सकता था। अन्त में सेन्ट अथानासियूस (मृत्यु 373 ई०), सेन्ट बासिल (मृत्यु 379 ई०), सेन्ट आगस्टाइन (मृत्यु 430 ई०) और महान गिरिगोरी (मृत्यु 609 ई०) जैसे लोगों के प्रभाव से संन्यास के बहुत-से सिद्धांत चर्च-व्यवस्था में विधिवत रूप से दाख़िल हो गए।

अपने धर्म के अन्दर उन्होंने जो नई बातें इस संन्यास के रूप में शामिल कर डाली थीं उनकी कुछ विशेषताएँ थीं, जिनका संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है :

1. कठोर तपस्याओं और नित नए तरीक़ों से अपने शरीर को यातनाएँ देना। इस मामले में प्रत्येक संन्यासी दूसरे से आगे बढ़ जाने की चेष्टा करता था। ईसाई महापुरुषों की कथाओं में इन लोगों के जो चमत्कार बयान किये गए हैं, वे कुछ इस प्रकार के हैं—

इस्कन्द्रिया का सेन्ट मकारियूस हर समय अपने शरीर पर अस्सी पौंड का बोझ उठाए फिरता था। छः महीने तक वह एक दलदल में सोता रहा। ज़हरीली मक्खियाँ उसके नंगे शरीर को काटती रहीं। उसके मुरीद सेन्ट यूसिबियूस ने अपने पीर से भी बढ़कर तपस्या की वह एक सौ पचास पौंड का बोझ उठाए रखता था और तीन वर्ष तक एक सूखे कुँए में पड़ा रहा। सेन्ट साबियूस केवल वह मकई खाता था जो महीने भर पानी में भीग कर बदबूदार हो जाती थी। सेन्ट बेसारियून 40 दिन तक कांटेदार झाड़ियों में पड़ा रहा और चालीस वर्ष तक उसने ज़मीन को पीठ नहीं लगाई। सेन्ट पाख़ूमियूस ने पन्द्रह वर्ष, और एक उल्लेख के अनुसार पचास वर्ष, ज़मीन को

पीठ लगाए बिना गुज़ार दिए। एक सन्त सेन्ट जॉन तीन वर्ष तक इबादत में खड़ा रहा। इस पूरी अवधि में वह न कभी बैठा, न लेटा। आराम के लिए बस एक चट्टान का सहारा ले लेता था, और उसका भोजन केवल वह प्रसाद था जो हर रविवार को उसके लिए लाया जाता था। सेन्ट सीमीयून स्टाइलाइट (390–449 ई०) जो ईसाइयों के उच्च श्रेणी के महापुरुषों में गिना जाता है, हिरायस्टर से पहले पूरे चालीस दिन उपवास करता था। एक बार वह पूरे एक वर्ष तक एक टाँग पर खड़ा रहा। प्रायः वह अपने आश्रम से निकलकर एक कूँए में जा रहता था। अन्ततः में उसने उत्तरी सीरिया के सीमान क़िले के निकट साठ फ़िट ऊंचा एक स्तम्भ बनवाया, जिसका ऊपरी हिस्सा केवल तीन फ़िट के घेरे में था और ऊपर कटहरा बनवा दिया गया था। इस स्तम्भ पर उसने पूरे तीस वर्ष व्यतीत कर दिए। धूप, वर्षा, सर्दी, गर्मी सब उसपर से गुज़रती रहती थी, और वह कभी स्तम्भ से न उतरता था। उसके अनुयायी सीढ़ी लगाकर उसको खाना पहुँचाते और उसकी गन्दगी साफ़ करते थे। फिर उसने एक रस्सी लेकर अपने आप को उस स्तम्भ से बाँध लिया, यहाँ तक कि रस्सी उसके मांस में गड़कर छिप गई। मांस सड़ गया और उस में कीड़े पड़ गए। जब कोई कीड़ा उसके ज़ख़्म से गिर जाता तो वह उसे उठाकर फिर ज़ख़्म ही में रख लेता और कहता, "खा, जो कुछ प्रभु ने तुझे दिया है।" ईसाई लोग दूर-दूर से उसके दर्शन के लिए आते थे। जब वह मरा तो आम ईसाइयों का निर्णय यह था कि वह ईसाई ऋषियों की सबसे अच्छी मिसाल था।

उस युग के ईसाई संतों की जो ख़ूबियाँ बयान की गई हैं, वे ऐसी ही मिसालों से भरी पड़ी हैं। किसी वली की विशेषता यह थी

कि तीस साल तक बिलकुल मौन रहा, और कभी उसे बोलते न देखा गया। किसी ने अपने आप को एक चट्टान से बाँध रखा था, कोई जंगलों में मारा-मारा फिरता और घास-फूस खाकर गुज़ारा करता। कोई भारी बोझ हर समय उठाए फिरता, कोई बेड़ियों और ज़ंजीरों से अपने अंगों को जकड़े रखता। कुछ महानुभाव जानवरों के भटों या सूखे कुँओं या पुरानी क़ब्रों में रहते थे, और कुछ दूसरे महापुरुष हर समय नंगे रहते और अपने गुप्तांग अपने लम्बे-लम्बे बालों से छिपाते तथा ज़मीन पर रेंगकर चलते थे। ऐसे ही महापुरुषों के चमत्कारों की चर्चाएँ हर तरफ़ होती थीं, और उनके मरने के बाद उनकी हड्डियां आश्रमों में सुरक्षित रखी जाती थीं। मैंने स्वयं सीना पहाड़ के नीचे सेन्ट केथराइन के आश्रम में ऐसी ही हड्डियों की एक पूरी लाइब्रेरी सजी हुई देखी है, जिसमें कहीं महापुरुषों की खोपड़ियाँ ढंग से रखी हुई थीं, कहीं पाँव की हड्डियाँ और कहीं हाथों की हड्डियाँ, और एक महापुरुष का तो पूरा ढाँचा ही शीशे की अलमारी में रखा हुआ था।

2. उनकी दूसरी विशेषता यह थी कि वे हर समय गन्दे रहते और सफ़ाई से बहुत बचते थे। नहाना या शरीर को पानी लगाना उनके निकट ईश-भक्ति के प्रतिकूल था। शरीर की स्वच्छता को वे आत्मा की गंदगी समझते थे। सेन्ट अथानासियूस बड़ी आस्था के साथ सेन्ट ऐन्थोनी की यह ख़ूबी बयान करता है कि उसने मरते दम तक कभी अपने पाँव नहीं धोए। सेन्ट अब्राहम जब से मसीहियत में दाख़िल हुआ, पूरे पचास वर्ष उसने न मुँह धोया ,न पाँव। एक प्रमुख सन्यासिनी कुमारी सिलबिया ने उम्र भर अपनी उँगलियों के सिवा शरीर के किसी अंग को पानी नहीं लगने दिया। एक कानवेंट की एक सौ तीस संन्यासिनियों की प्रशंसा में लिखा गया है कि उन्होंने

कभी अपने पाँव नहीं धोए और स्नान का तो नाम सुनकर ही उनके बदन में कँपकपी तारी हो जाती थी।

3. इस संन्यास ने वैवाहिक जीवन को व्यवहारतः बिलकुल हराम कर दिया और विवाह के संबंध को तोड़ फेंकने में बड़ी निर्दयता से काम लिया। चौथी और पांचवी शताब्दी के सारे धार्मिक लेख इस विचार से भरे हुए हैं कि ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा नैतिक मूल्य है, और पाकदामनी का अर्थ यह है कि आदमी यौन-संबंधों से पूर्णतः बचा रहे, चाहे वह पति-पत्नी का संबंध ही क्यों न हो। पवित्र आध्यात्मिक जीवन का कमाल यह समझा जाता था कि आदमी अपने मन को बिलकुल मार दे और उसमें शारीरिक सुख की कोई इच्छा तक शेष न छोड़े। इन लोगों के निकट इच्छाओं का दमन इसलिए आवश्यक था कि इससे पाशविकता को बल मिलता है, उनकी दृष्टि में सुख (भोग विलास) और पाप समानार्थक थे, यहाँ तक कि प्रसन्नता भी उनकी निगाह में ईश विस्मरण का पर्याय थी। सेन्ट बासिल हँसने और मुस्कराने तक को वर्जित ठहराता है। इन्हीं धारणाओं के कारण स्त्री और पुरुष के बीच शादी का संबंध उनके यहाँ बिलकुल अपवित्र घोषित हो गया था। संन्यासी के लिए आवश्यक था कि वह शादी करना तो दूर की बात, औरत की शक्ल तक न देखे और अगर विवाहित हो तो पत्नी को छोड़कर निकल जाए। पुरुषों की तरह स्त्रियों के दिल में भी यह बात बिठाई गई थी कि अगर वे स्वर्ग-राज्य में प्रवेश पाना चाहती हैं तो हमेशा कुँवारी रहें और अगर पहले से विवाहित हों तो अपने पतियों से अलग हो जाएँ। सेन्ट जीरूम जैसा प्रमुख मसीही विद्वान कहता है कि जो स्त्री मसीह के लिए संन्यासी बनकर आजीवन कुँवारी रहे, वह मसीह की वधु है और उस स्त्री की माँ को प्रभु, अर्थात् मसीह की सास (Mother-in-

Law of Christ) होने का श्रेय प्राप्त है। एक और स्थान पर सेन्ट जीरूम कहता है कि पाक़दामनी की कुल्हाड़ी से वैवाहिक संबंध की लकड़ी को काट फेंकना ईश-कामना में रत व्यक्ति का सर्वप्रथम कर्तव्य है। इन शिक्षाओं के कारण धार्मिक भावना के आविर्भाव के बाद एक मसीही पुरुष या एक मसीही स्त्री पर उसका पहला प्रभाव यह होता था कि उसका सुखमय वैवाहिक जीवन हमेशा के लिए समाप्त हो जाता था। और चूँकि मसीहियत में तलाक़ और जुदाई का रास्ता बन्द था, इसलिए विवाह के बन्धन में रहते हुए भी पति और पत्नी एक-दूसरे से जुदा हो जाते थे। सेन्ट नाइलस दो बच्चों का बाप था। जब उसपर संन्यास का दौरा पड़ा तो उसकी पत्नी रोती रह गई और वह उससे अलग हो गया। सेंट अम्मून ने शादी की पहली रात ही अपनी दुल्हन को वैवाहिक संबंध की अपवित्रता पर उपदेश दिया और दोनों ने सहमत होकर निश्चय कर लिया कि जीते-जी एक दूसरे से अलग रहेंगे। सेन्ट अब्राहम शादी की पहली रात ही अपनी पत्नी को छोड़कर फ़रार हो गया। यही हरकत सेन्ट ऐलेक्सिस ने की। इस प्रकार की घटनाओं से ईसाई महापुरुषों की कथाएँ भरी पड़ी हैं।

चर्च की व्यवस्था तीन शताब्दियों तक अपनी सीमाओं में अतिवाद पर आधारित इन धारणाओं से किसी न किसी तरह संघर्ष करती रही। उस ज़माने में एक पादरी के लिए ब्रह्मचारी होना अनिवार्य न था। अगर उसने पादरी के पद पर नियुक्त होने से पहले शादी कर ली हो तो वह पत्नी के साथ रह सकता था, परन्तु नियुक्ति के बाद शादी करना उसके लिए वर्जित था। यह बात भी थी कि किसी ऐसे व्यक्ति को पादरी नियुक्त नहीं किया जा सकता था, जिसने किसी विधवा या तलाक़ पाई हुई स्त्री से शादी की हो या

जिसकी दो पत्नियाँ हों, या जिसके घर में दासी हो। धीरे धीरे चौथी शताब्दी में यह विचार पूरी तरह ज़ोर पकड़ गया कि जो व्यक्ति चर्च में धार्मिक–सेवा करता हो उसके लिए विवाहित होना बड़ी घृणा की बात है। 362 ई० की गिंगरा परिषद (Council of Gengra) अन्तिम परिषद थी जिसमें इस प्रकार के विचारों को धर्म विरुद्ध घोषित किया गया, किन्तु इसके थोड़े ही समय के बाद 384 ई० की रोमन सीनाड ने सभी पादरियों को मशविरा दिया कि वे वैवाहिक संबंधों से किनारा कर लें, और दूसरे साल पोप साइरीकियस ने आदेश दिया कि जो पादरी शादी करे या वैवाहिक होने की सूरत में अपनी पत्नी से संबंध रखे, उस को पदच्युत कर दिया जाए। सेन्ट जीरूम, सेन्ट ऐम्ब्रूज़ और सेन्ट आगस्टाइन जैसे महान विद्वानों ने बड़े ज़ोर–शोर से इस फ़ैसले का समर्थन किया और थोड़े से विरोध के बाद पश्चिमी चर्च में यह पूरी सख़्ती के साथ लागू हो गया। उस समय अनेक परिषदें इन शिकायतों पर विचार करने के लिए आयोजित हुईं कि जो लोग पहले से शादीशुदा थे, वे धार्मिक सेवाओं पर नियुक्त होने के बाद भी अपनी पत्नियों के साथ 'अवैध' संबंध रखते हैं। अन्ततः उनके सुधार के लिए ये नियम बनाए गए कि वे खुले स्थानों पर सोएँ, अपनी पत्नियों से कभी भी एकांत में न मिलें और उनकी मुलाक़ात के समय कम से कम दो व्यक्ति मौजूद हों। सेन्ट गेरीगोरी एक पादरी की प्रशंसा में लिखता है कि चालीस वर्ष तक वह अपनी पत्नी से अलग रहा, यहाँ तक कि मरते समय भी जब उसकी पत्नी उसके निकट गई तो उसने कहा, "औरत! दूर हट जा।"

4. सबसे ज़्यादा हृदय–विदारक अध्याय इस संन्यास का यह है कि इसने मां–बाप, भाई–बहिनों और सन्तान तक से आदमी का संबंध काट दिया। मसीही संतों की दृष्टि में औलाद के लिए माँ–

बाप का प्रेम, माँ–बाप के लिए औलाद का प्रेम, भाई–बहिनों का प्रेम भी एक पाप था। उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक विकास के लिए यह अनिवार्य था कि मनुष्य इन सारे सम्बन्धों को तोड़ दे। मसीही संतों की कथाओं में उसके सम्बन्ध में ऐसी–ऐसी हृदय–विदारक घटनाएँ मिलती हैं, जिन्हें पढ़कर अपने धैर्य को बाक़ी रखना इनसान के लिए मुशकिल हो जाता है। एक संन्यासी इवागिरियस (Evagrius) वर्षों से बयाबान में तपस्याएँ कर रहा था। एक दिन अचानक उसके पास उसकी माँ और उसके बाप के पत्र पहुँचे, जो वर्षों से उस की जुदाई में तड़प रहे थे। उसे भय हुआ कि कहीं इन पत्रों को पढ़कर उसके दिल में इनसानी मुहब्बत का भाव न जाग उठे, उसने उनको बिना खोले ही तत्काल आग में झोंक दिया। सेन्ट थ्योडोरस की मां और बहिन बहुत–से पादरियों के सिफ़ारिशी पत्र लेकर उस आश्रम में पहुंचीं, जहाँ उसने निवास ग्रहण कर रखा था। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि वह केवल एक पल बेटे और भाई को देख लें, मगर उसने उनके सामने आने तक से इनकार कर दिया। सेन्ट मारकस (Marcus) की माँ उससे मिलने के लिए उसके आश्रम में गई और मठाधीश एबोट (Abbot) की ख़ुशामद करके उसको राज़ी किया कि वह बेटे को माँ के सामने आने का आदेश दे। मगर बेटा किसी तरह भी माँ से मिलना नहीं चाहता था। आख़िर में उसने गुरु के आदेश का पालन इस प्रकार किया कि भेस बदलकर माँ के सामने गया और आँखें बन्द कर लीं। इस तरह न माँ ने बेटे को पहचाना, न बेटे ने माँ की सूरत देखी। एक और संत सेन्ट पोइमन (st. Poemen) और उसके छः भाई मिस्र के एक बयाबानी आश्रम में रहते थे। वर्षों बाद उनकी बूढ़ी माँ को उनका पता मालूम हुआ और वह उनसे मिलने के लिए वहाँ पहुँची। बेटे माँ को दूर से देखते ही भागकर

अपनी कुटिया में चले गए और दरवाज़ा बन्द कर लिया। माँ बाहर बैठकर रोने लगी और उसने चीख़-चीख़कर कहा, "मैं इस बुढ़ापे में इतनी दूर चलकर सिर्फ़ तुम्हें देखने आई हूँ, तुम्हारा क्या नुक़्सान होगा अगर मैं तुम्हारी सूरतें देख लूँ, क्या मैं तुम्हारी माँ नहीं हूँ?" किन्तु उन महापुरुषों ने दरवाज़ा नहीं खोला और माँ से कह दिया कि हम तुझसे ख़ुदा के यहाँ मिलेंगे। इससे भी अधिक दर्दनाक क़िस्सा सेन्ट सीमिउन इस्टाइलाइटस (st. Simeon Stylytes) का है जो माँ-बाप को छोड़कर सत्ताईस वर्ष ग़ायब रहा। बाप उसके ग़म में मर गया, माँ जीवित थी। बेटे के सिद्ध होने की चर्चाएँ जब दूर व नज़दीक हर जगह फैल गईं तो उसको पता चला कि वह कहाँ है,। बेचारी उससे मिलने के लिए उसके आश्रम पर पहुँची, परन्तु वहां किसी स्त्री को प्रवेश की अनुमति न थी। उसने लाख निवेदन किया कि बेटा या तो उसे भीतर बुला ले या बाहर निकलकर उसे अपनी सूरत दिखा दे। मगर उस 'ईश-प्रेमी' ने साफ़ इनकार कर दिया। तीन रात और तीन दिन वह आश्रम के द्वार पर पड़ी रही, और अन्ततः वहीं लेटकर उसने अपने प्राण त्याग दिए, तब सन्त जी निकलकर आए, माँ की लाश पर आँसू बहाए और उसकी मुक्ति के लिए प्रार्थना की।

ऐसी ही निर्दयता इन संतों ने बहनों के साथ और अपनी संतान के साथ दिखलाई। एक व्यक्ति ने म्यूटियस (Mutius) का क़िस्सा लिखा है कि वह सम्पन्न व्यक्ति था। सहसा उसमें धार्मिक भाव जागा और वह अपने आठ वर्ष के इकलौते बेटे को लेकर एक आश्रम में जा पहुँचा। वहाँ उसके आध्यात्मिक विकास के लिए अनिवार्य था कि वह बेटे का प्रेम हृदय से निकाल फेंके। इसलिए पहले तो बेटे को उससे जुदा कर दिया गया, फिर उसकी आँखों के

सामने एक समय तक तरह-तरह की सख़्तियाँ उस अबोध बच्चे पर की जाती रहीं और उसका बाप सब कुछ देखता रहा। फिर आश्रम के गुरु ने उसे आदेश दिया कि इसे ले जाकर अपने हाथ से दरिया में फेंक दे। जब वह इस आदेश के पालन के लिए भी तैयार हो गया तो ठीक उस समय सन्तों ने बच्चे के प्राण बचाए, जब वह उसे नदी में फेंकने ही वाला था। इसके बाद स्वीकार कर लिया गया की वह वास्तव में सिद्धावस्था को प्राप्त हो चुका है।

मसीही संन्यास का दृष्टिकोण इस संबंध में यह था कि जो व्यक्ति ईश-प्रेम का इच्छुक हो, उसे चाहिए कि मानव-प्रेम के वे सारे बंधन काट दे जो दुनिया में उसको अपने माता-पिता, भाई-बहनों और बाल-बच्चों के साथ बाँध रखते हैं। सेन्ट जीरूम कहता है कि चाहे तेरा भतीजा तेरे गले में हाथ डालकर तुझसे लिपटे, चाहे तेरी माँ अपने दूध का वास्ता देकर तुझे रोके, चाहे तेरा बाप तुझे रोकने के लिए तेरे आगे लेट ही क्यों न जाए, फिर भी तू सबको छोड़कर और बाप के शरीर को रौंदकर एक आँसू बहाए बग़ैर सलीब के झण्डे की ओर दौड़ जा। इस मामले में निर्दयता ही धर्मपरायणता है। सेन्ट गिरीगोरी लिखता है कि एक नव युवक संन्यासी माँ-बाप का प्रेम दिल से न निकाल सका और एक रात चुपके से भागकर उनसे मिल आया। ईश्वर ने इस ग़लती की सज़ा उसे यह दी कि आश्रम वापस पहुँचते ही उसकी मृत्यु हो गई। उसका शव ज़मीन में दफ़न किया गया तो ज़मीन ने उसे स्वीकार नहीं किया। बार-बार क़ब्र में डाला जाता और ज़मीन उसे निकालकर फेंक देती । अन्ततः सेन्ट बैनेडिक्ट ने उसके सीने पर प्रसाद रखा, तब क़ब्र ने उसे स्वीकार किया। एक संन्यासिनी के बारे में लिखा है

कि वह मरने के बाद तीन दिन यातनाग्रस्त रही कि वह अपनी माँ का प्रेम दिल से न निकाल सकी थी। एक संत की प्रशंसा में लिखा है कि उसने कभी अपने रिश्तेदारों के अलावा किसी के साथ निर्ममता नहीं दिखलाई।

5. अपने निकटतम संबन्धियों के साथ निर्दयता, क्रूरता और कठोर हृदयता दिखाने का जो अभ्यास ये लोग करते थे उसके कारण इनकी मानवीय कोमल भावनाओं का अन्त हो जाता था और इसी का परिणाम था कि जिन लोगों से इन्हें धर्म संबंधी मतभेद होता था, उनके विरुद्ध ये अत्याचार को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा देते थे। चौथी शताब्दी तक पहुँचते–पहुँचते मसीहियत में अस्सी–नव्वे सम्प्रदाय पैदा हो चुके थे। सेन्ट आगस्टाइन ने अपने ज़माने में अठासी सम्प्रदाय गिनाए हैं। ये सम्प्रदाय परस्पर एक–दूसरे से अत्यन्त घृणा करते थे। इस घृणा की आग को भड़काने वाले भी संन्यासी ही थे और इस आग में अपने विरोधी गिरोहों को जलाकर भस्म कर देने की कोशिशों में भी संन्यासी ही आगे रहते थे। अस्कंदरिया इस साम्प्रदायिक संघर्ष का एक बड़ा अखाड़ा था वहाँ पहले ऐरियन सम्प्रदाय के बिशप ने अथानासियूस की पार्टी पर हमला किया, उसके आश्रमों से कुमारी संन्यासिनियों को पकड़–पकड़कर निकाला गया, उनको नंगा करके कंटीली टहनियों से पीटा गया और उनके शरीर को दाग़ा गया, ताकि वे अपने विचारों को त्याग दें। फिर जब मिस्र में कैथोलिक दल को अधिकार प्राप्त हुआ तो उसने ऐरियन (Arian) सम्प्रदाय के विरुद्ध यही सब कुछ किया, यहाँ तक कि, सम्भवतः, स्वयं ऐरियस (Arius) को भी विष देकर मार दिया गया। इसी असकंदरिया में एक बार सेन्ट साइरिल (st. Syril) के शिष्य संन्यासियों ने बड़ा उपद्रव

मचाया, यहां तक कि विरोधी दल की एक संन्यासिनी को पकड़कर अपने चर्च में ले गए, उसे मार डाला, उसकी लाश की बोटी-बोटी नोच डाली और फिर उसे आग में झोंक दिया। रोम की स्थिति भी इससे कुछ भिन्न न थी। 366 ई० में पोप लिबेरियस (Liberius) के निधन पर दो दलों ने पोप पद के लिए अपने-अपने उम्मीदवार खड़े किए। दोनों के मध्य भीषण रक्तपात हुआ, यहाँ तक कि एक दिन में केवल एक चर्च से 137 शव निकाले गए।

6. इस त्याग और ब्रह्मचर्य तथा संन्यास के साथ सांसारिक धन समेटने में भी कोई कमी नहीं की गई। पांचवी शताब्दी के आरम्भ ही में हालत यह हो चुकी थी कि रोम का बिशप राजाओं की तरह अपने महल में रहता था और उसकी सवारी ज़ब शहर से निकलती थी तो उसके ठाट-बाट रोम के राजा की सवारी से कम न होते थे। सेन्ट जीरूम अपने युग (चौथी शताब्दी के अन्तिम समय) में शिकायत करता है कि बहुत-से बिशपों के भोग अपनी भव्यता में गवर्नरों के भोगों को लज्जित कर देते हैं। आश्रमों और चर्चों की ओर धन का यह प्रवाह सातवीं शताब्दी (क़ुरआन अवतरण के समय) तक पहुँचते-पहुंचते सैलाब का रूप धारण कर चुका था। यह बात प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में बिठा दी गई थी कि जिस किसी से कोई बड़ा पाप हो जाए, उसकी मुक्ति किसी न किसी सिद्ध के मठ पर भेंट चढ़ाने अथवा किसी आश्रम या चर्च को भेंट देने ही से हो सकती है। इसके बाद वही दुनिया संन्यासियों के पाँवों में आ गई जिससे दूर रहना ही उनकी प्रमुख विशेषता थी। विशेष रूप से जो चीज़ इस पतन का कारण बनी वह यही थी कि संन्यासियों की असाधारण तपस्याएँ और उनके आत्म-दमन के चमत्कार देखकर

जब जनता में उनके लिए अत्यधिक आस्था पैदा हो गई तो बहुत-से दुनियादार लोग संन्यास का भेष धारण कर। संन्यासियों के गिरोह में शामिल हो गए और उन्होंने संसार-त्याग के इस भेष में दुनिया कमाने का काराबोर ऐसा चमकाया कि बड़े-बड़े दुनियादार उनसे मात खा गए।

7. पाकदामनी के संबंध में भी प्रकृति से लड़कर संन्यास को बार-बार पराजित होना पड़ा, और जब पराजित हुआ तो बुरी तरह पराजित हुआ। आश्रमों में आत्म-दमन के कुछ अभ्यास ऐसे भी थे जिनमें संन्यासी पुरुष और संन्यासी स्त्रियाँ मिलकर एक ही जगह रहते थे और प्रायः कुछ अधिक अभ्यास के लिए एक ही बिस्तर पर रात व्यतीत करते थे। प्रसिद्ध संन्यासी सेंट इवागिरियस (Evagrius) बड़ी प्रशंसा के साथ फ़लस्तीन के उन संन्यासियों के आत्म-नियंत्रण का उल्लेख करता है जो अपनी वासनाओं पर इतना क़ाबू पा गए थे कि स्त्रियों के साथ एक ही जगह स्नान करते थे और उनको देखने से, उनके स्पर्श से, यहाँ तक कि उनके आलिंगन से भी उनके ऊपर प्रकृति को विजय प्राप्त नहीं होती थी। यद्यपि स्नान संन्यास में अत्यंत अप्रिय था, किन्तु आत्म-दमन के अभ्यास के लिए इस प्रकार के स्नान भी कर लिए जाते थे। अन्ततः उसी फ़लस्तीन के सम्बन्ध में नीसा (Nyssa) का सेन्ट गिरीगोरी (मृत्यु 396 ई०) लिखता है कि वह दुश्चरित्रता का गढ़ बन गया है। मानव-प्रकृति कभी भी उन लोगों से प्रतिशोध लिए बग़ैर नहीं रहती जो उससे संघर्ष करते हैं। संन्यास उससे लड़कर अन्ततः अनैतिकता के जिस गढ़े में जा गिरा, उसकी कहानी आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक के धार्मिक इतिहास का अत्यन्त कुरूप कलंक है। दसवीं

शताब्दी का एक अतालवी बिशप लिखता है, "अगर चर्च में धार्मिक सेवाएँ क़रनेवालों के विरुद्ध कुकर्मों की सज़ाओं का क़ानून व्यवहारतः लागू कर दिया जाए तो (नाबालिग़) लड़कों के अतिरिक्त कोई सज़ा से न बच सकेगा और अगर अवैध बच्चों को भी धार्मिक सेवाओं से निलम्बित कर देने का नियम लागू किया जाए तो शायद चर्च के सेवकों में कोई लड़का तक बाक़ी न रहे।" मध्य युग के लेखकों की पुस्तकें इन शिकायतों से भरी हुई हैं कि संन्यासिनियों के आश्रम कुकर्म के वैश्यालय बन गए हैं, उनकी चार दीवारियों मे नवजात बच्चों का क़त्लेआम हो रहा है। पादरियों और चर्च के धार्मिक कर्मचारियों में उन स्त्रियों तक से अवैध संबंध स्थापित हो गए हैं जिन स्त्रियों से किसी भी हालत में विवाह नहीं हो सकता, और आश्रमों में प्रकृति के विरुद्ध अश्लील कर्म जैसे अपराध भी फैल गए हैं। चर्चों में अपराध स्वीकृति (Confession) की रीति कुकर्म का साधन बनकर रह गई है।

इन विवरणों से भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि क़ुरआन मजीद यहाँ धर्म में संन्यास जैसी नई चीज़ दाख़िल करने और फिर उसका हक़ अदा न करने का वर्णन करके मसीहियत के किस बिगाड़ की ओर संकेत कर रहा है।